संपादकीय

संपादकीय का पार्श्व पक्ष

संपादकीय पर संपादक का विशेषाधिकार है, वह विवेकाधीन कोटे से जिस विषय को चाहे संपादकीय पृष्ठ आवंटित कर सकता है। फिर भी मनोवैज्ञानिक व नैतिक दबाव का सामना करना पड़ता है कि वे मुद्दे न छूट जाएँ जो ज्वलंत तथा सामयिक महत्त्व के हैं। कई बार संपादकीय के लिए उपयुक्त विषय नहीं सूझते और कई बार अनेक विषय मन-मानस में तैरते मिल जाते हैं; जिनमें से छाँटना कठिन होता है कि किसे स्थान दिया जाए और किसे छोड़ा जाए। प्रकाशन की कालावधि के अनुरूप विषय की प्रकृति सुनिश्चित होती है। संपादक के रुचि-विवेक और प्रसार की व्यापकता पर निर्भर है कि स्थानीय मुद्दे उठेंगे या प्रांतीय अथवा राष्ट्रीय या वैश्विक। इसके अलावे स्वामित्व का अधिकार भाव भी पत्र की नीति-गति तय करता है। वैचारिक दृष्टिकोण के अनुकूल चयित विषय का विश्लेषण पत्र-पत्रिका को धार देता है; चयित खबरों, घटनाक्रमों से दिशाबोध की भूमिकाएँ तय होती हैं। पत्र व पत्रिकाएँ जितनी शीघ्रता से निकलती हैं, उनमें स्वाभाविक रूप से घटनाक्रम उतना ही अल्पकालिक महत्त्व का होता है। अपेक्षाकृत लंबे समय पर प्रकाशित होने वाले पत्र, पत्रिकाओं के दीर्घकालिक विषय विवेचन में वैचारिकी का प्राबल्य सहज है। तात्कालिक घटना की विषय सामग्री की आधारशिला पर भी दीर्घजीवी सैद्धांतिकी का संपादकीय लिखा जाता है। यह सही है कि विषय-वस्तु अल्पकालिक महत्त्व की हो या दीर्घकालिक महत्त्व की, उसकी तात्कालिक प्रासंगिकता ही संपादकीय में स्थान दिलाती है।

पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन के आरंभिक काल से संपादकीय लिखने की परंपरा है, क्योंकि विचारकों को केवल घटनाओं, समाचारों का संकलन ही यथेष्ट नहीं लगा, अपितु संतुलित नजरिए की वैचारिक खुराक भी अभीप्सित रही। कुछएक बार भिन्न-भिन्न कारणों से समय का अभाव होता है। तब अग्रलेख के लिए उपयुक्त विषय तलाशने में मशक्कत करनी पड़ती है। जब विषय कम उपयुक्त महसूस हों, अरुचिकर अथवा बेमन वाले लगते हों तो स्वाभाविक है कि उसका विवेचन भी समुचित नहीं हो सकता; जबकि विषय का आधिक्य होने पर चयन में कठिनाई के बावजूद मनलायक विषय और उसका ठीक विश्लेषण हो जाता है। लेखन-पठन के कार्यों के कारण भी व्यस्तताएँ हो सकती हैं, ऐसे में जिस विषय पर लेखन या अनुसंधान कार्य चल रहा होता है, उसी से संबंधित विषयों को तात्कालिक अर्थवत्ता प्रदान कर अग्रलेख लिख दिए जाते हैं। वे भले ही सहज सन्नद्ध न लगें, पर लेखकीय प्रवाहमयता को गति देते हैं। लेखकीय पृष्ठभूमि का लाभ सभी तरह की विचाराभिव्यक्ति के सिलसिले में मिलना स्वाभाविक है। वैसे भी जिस परिवेश में आदमी रहता है, लगभग उसी पृष्ठभूमि में सोचता-समझता, लिखता-बोलता है, उसी के इर्द-गिर्द विचारों को अभिव्यक्त करता है।

अग्रलेख पर विषयाभाव, विषय वैविध्य और समयाभाव की जल्दीबाजी का असर पड़ना लाजिमी है। जल्दीबाजी में दुहराव की आशंका रहती है; खासकर तब, जब त्रुटि-सुधार से लेकर लेखन-संपादन तक का समूचा कार्य स्वयं ही करना पड़े। शाब्दिक-भाषिक दोष, वाक्यगत शिथिलता, तात्कालिक प्रबल धारा के प्रवाह तथा रुख का दबाव, वैचारिक आवेग का प्रभाव बहुत सहज है। सभी कार्य दोषयुक्त होते हैं - 'सर्वारंभा हि दोषेण' - यह सूत्र सदैव जुड़ा रहता है, बेशक ज्यादातर गलतियों का देर-सबेर बोध हो जाता है, कुछ का आभास दूसरों द्वारा भी कराया जाता है। किसी-न-किसी रूप में त्रुटि अवश्यंभावी है, किंतु इस सूत्र की आड़ में कमियों को दरकिनार नहीं किया जा सकता, उन पर परदा नहीं डाला जा सकता। व्यक्तिगत अंतर्द्वंद्व, राग-द्वेष, आशा-निराशा, संलिप्तता-असंलिप्तता की भावना लेखकीय सामर्थ्य और सीमा सुनिश्चित करती है। अलग-अलग समय में लिखे जाने के कारण बिखराव, शिथिलता, जटिलता, उलझाव के साथ भाषिक कसावट में कमी आती है। लेख या अग्रलेख जब दिन, महीने, बरस बीतने के बाद पुस्तक का रूप ग्रहण करते हैं, तब वैसे कई दोष पहचाने जाते हैं, जो सही की तरह छप चुके होते हैं। उपयोगी रही चीजें अनुपयोगी बनकर छँटती हैं। समय बीतने के बाद ही उनकी निरर्थकता का भान होता है। बहुविध विषय पर लिखे लेख पुस्तक में ढलकर विचार व भाषा के प्रवाह का नमूना तथा चेतना धारा की बानगी बनते हैं। तात्कालिकता-अल्पकालिकता से दूर नए कलेवर में अनूठे लगते हैं, हालाँकि तब भी अल्पतः व सूक्ष्मतः 'सर्वारंभा हि दोषेण' का सिद्धांत काम कर रहा होता है। सारे अग्रलेख महत्त्वपूर्ण नहीं होते, कुछ की केवल तात्कालिक महत्ता ही होती है; वैसे भी लेख समय विशेष के लिए ही लिखे जाते हैं।

संपादकीय संपादक की ओर से ही लिखा जाए - यह बिलकुल जरूरी नहीं, विशेषकर आजकल के व्यावसायिक युग में। कुछ नामी पत्र अपने संपादकीय एकदम बाहरी लोगों से लिखवाते हैं और उसके एवज में तय पारिश्रमिक का भुगतान करते हैं। संपादक होने और संपादकीय लिखने के लिए जितना वैचारिक एवं शैक्षिक रूप से समृद्ध होना आवश्यक है, उससे कम नहीं स्वामित्व को धारण करना उपयोगी है। आर्थिक स्वामित्व रखने वाले को ढेरों संपादक और संपादकीय लिखने वाले मिल जाते हैं। पत्र-पत्रिका मालिक प्रायः मुख्य या प्रबंध संपादक भी बन जाते हैं। जैसे स्वामी होने की अपनी प्रभुता है, वैसे ही संपादक के प्रबुद्ध होने का गौरवबोध है। पत्र व पत्रिकाएँ मुद्रित न भी हो रही हों, किंतु वेबसाइट पर लघु डिजिटल रूप में ही क्यों हों, तब भी संपादकीय अपेक्षित है। समसामयिक घटनाओं, समस्याओं, चुनौतियों का साक्षात्कार होता है और जागृत होकर समाधान खोजने का अवसर इससे उपलब्ध होता है। देश-दुनिया से प्रबल संवाद का यह प्लेटफार्म है। यद्यपि यह सार्वजनिक धरोहर है, पर कई बार व्यक्तिवाद, स्वार्थवाद हावी हो जाता है यानी इसमें व्यक्तिगत भाव-अभाव का विलयन होता है। अकर्म की स्थिति में भी इसके माध्यम से या इसके लिए ही सही, सक्रियता बनी रहती है। यह इसका सकारात्मक पक्ष है कि बेरोजगारी में बेकार नहीं होने देता, भले ही इस रोजगार से धनोपार्जन न हो रहा हो। ऐसा संपादकीय जिसका सीधा अथवा परोक्ष लाभ बिलकुल न हो, उसकी प्रकृति अलग किस्म की होगी ही। धनोपार्जन की आवश्यकता न होना अलग बात है, जिसके तहत रुपए कमा लिए लोगों की तरह मात्र एक रुपया वेतन के तौर पर लेने अथवा वह भी न लेने की मंशा नहीं रहती। आवश्यकता रहते हुए भी धन उपार्जित न कर पाना दूसरा मानस बनाता है। फिर बिना आकांक्षा के लेखन से कैसी आकांक्षा हो सकती है? गुणवत्ता में विकास-विस्तार कितना मुमकिन है? शौक से लिखा जाए तो उसकी गरिमा अलग तरह की होगी, पर शौक का सवाल बुनियादी आवश्यकता व कार्य के बाद उत्पन्न होता है। किसी अनुषंगी, पूरक कार्य के सहयोग का सान्निध्य हासिल न होने में ही इसकी सार्थकता-निरर्थकता का रहस्य अंतर्निहित है!

संपादकीय किसी पत्र-पत्रिका का वैचारिक मुख है। संपादकीय समसामयिक विचारणाओं से जुड़े रहने का उपक्रम है, संपादक और पाठक के बीच की कड़ी है; राजसत्ता और जनता के बीच का सेतु है। यह अपने समय का इतिवृत्त है, घटनाओं का यथासंभव पारदर्शी साँचा है। सैद्धांतिक रुझानों की झाँकी है, वैचारिक प्रतिबद्धताओं का प्रतिबिंब है। सामाजिक संघर्ष, जनचेतना, बदलाव, हर्ष-निनाद, प्रकृति-परिवेश, प्रकोप-त्रासदी आदि का जीता-जागता साक्ष्य है। जहाँ पत्र के पाठक सीमित हों, पत्र पढ़ा जाता या नहीं पढ़ा जाता - यह ज्ञात नहीं होता, वहाँ लचीलेपन की कमी स्वाभाविक है; लेकिन जहाँ पाठक वर्ग बड़ा और प्रबुद्ध है, वहाँ उसके मानस को परखकर लचीला रूप देते हुए पठनीयता सुग्राह्य बनानी पड़ती है। यहीं डिजीटल-वेब मैगजीन तथा मुद्रित पत्र-पत्रिका के स्वरूप का अंतर झलकता है। इसी के अनुरूप इसका सकारात्मक प्रभाव कभी व्यापक तो कभी नगण्य लक्षित होता है।

जाति की वापसी

पिछले चार-पाँच सालों में जाति की वापसी हुई है? किंतु वापसी तो तब संभव है, जब कम या अधिक समय के लिए वह जाए और फिर आए। हो सकता है कि ऐसा कहने-सोचने वालों का पूर्वाग्रह बोल रहा हो, उनका अपना जातीय-अंतर्जातीय राग-द्वेष व्यक्त हो रहा हो, इसलिए इसकी तथ्यगत जाँच के उपरांत निष्कर्ष निकालने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि 'जाति की वापसी' का मतलब क्या है? 'जाति' का बहुवचन 'जातियाँ' हैं। 'जाति' की वापसी की बात कही गई है, 'जातियों' की वापसी की नहीं, पर जातियाँ तो सदैव रही हैं। जाति एक अस्तित्वबोध एवं अस्मितामूलक शब्द भी है। जिनके लिए यह गौरवबोध है, असल में 'जाति' भी उन्हीं की ज्यादा होती है और इसी 'जाति' की सत्ता का नैरंतर्य अधिक सबल हुआ है, हालाँकि नई उभार के साथ जिन जाति-नस्लों को हीन माना गया था, उनके लोग भी अब अपनी जाति-नस्ल पर गर्व प्रकट करते हैं और कहते हैं कि 'मैं काला हूँ और काला ही सुंदर है।' अस्तु, आधुनिक काल में राजनीतिक शक्ति, सरकार और शासनिक-प्रशासनिक इकाइयाँ लोकतांत्रिक समाज का सर्वाधिक नियमन कर रही हैं। इन्हीं के माध्यम से व्यक्ति, वर्ग, जनसमूह की उन्नति-अवनति की नियति नियत है। राजनीतिक शक्तियों के सामंजस्य से जाति विशेष अथवा कुछएक जातियों को प्रश्रय मिलता है, उनका प्रभाव घटता-बढ़ता है और कभी-कभी इन्हीं नस्लीय, जातीय, सांप्रदायिक, क्षेत्रीय कारणों से अन्याय, उत्पीड़न का सामना करना पड़ता है। यह सब कार्यकारी सत्ता की प्रकृति पर निर्भर है।

किसी जाति में एक दल का मजबूत जनाधार है, तो किसी अन्य जाति में दूसरे दल का। पुरानी पार्टियों का भिन्न-भिन्न संप्रदायों में अपना-अपना जनाधार है, इसी प्रकार जातीय जनाधार भी परंपरागत है, हालाँकि समयानुरूप लहर के कारण रुझानों में बदलाव भी दृष्टिगत होता है। भाजपा का मुस्लिमों में जनाधार कमजोर है, किंतु हिंदुओं में अपेक्षाकृत मजबूत है, यद्यपि एक बड़ा वर्ग हिंदू के तौर पर मतदान करने की बजाय जातिगत आधार पर मतदान करने की पूर्वचेतना से लैस है, पर वहाँ भी सांप्रदायिक ध्रुवीकरण के समय जाति की दीवार कमजोर पड़ती है। बहुजन समाज पार्टी का किसी अन्य वर्ग की अपेक्षा दलितों में जनाधार सुदृढ़ है, तो वहीं समाजवादी पार्टी या राष्ट्रीय जनता दल में यादवों और मुस्लिमों की अच्छी भागीदारी है। जनता दल (यू) की कुर्मी-कोइरी जातियों में मजबूत पकड़ है। कई छोटे-छोटे दलों का गठन विशुद्ध जातीय आधार पर हुआ है, बाद में बाकी जातियों का समावेश धीरे-धीरे सुगम हुआ। कुछ समूहों एवं संगठनों ने अपने जातीय हितों को विस्तीर्ण करते हुए राजनीति का चोला पहन लिया है। लेकिन सार्वभौमिक सच्चाई है कि बहुमत प्राप्ति के लिए सभी जातियों का समन्वयात्मक सहयोग आवश्यक है। किसी एक-दो जाति के दम पर कोई दल सता में नहीं आ सकता, चाहे वे जातियाँ कितनी ही सशक्त रही हों; किसी एक जाति की इतनी संख्या भी नहीं कि अपने अकेले बूते किसी दल को सत्ता में ला सके। फिर सभी जातियों में ऐसे लोग हैं, जो जाति देखकर वोट कदापि नहीं करते। इस समय देश व प्रदेशों में जिन-जिन दलों के बहुमत की सरकारें हैं, उनमें सब जातियों का आंशिक योग है।

किसी पार्टी के स्वरूप, चाल, चरित्र, चेहरा के साथ आंतरिक व बाह्य जातिगत झुकाव को देखने के लिए उसकी संगठनात्मक संरचना तथा उसके नेतृत्व वाली सरकार की बुनावट को परखने के साथ व्यवस्थागत ढाँचे के संतुलन और वर्चस्ववादी वर्गीय प्रवृत्ति का तथ्यगत आकलन अपेक्षित है। मंत्रालयों, शासनिक महकमों, प्रशासनिक निकायों के प्रमुख पद पर किसी जाति की अधिसंख्या होने का तात्पर्य है कि उसके प्रति अलोकतांत्रिक लगाव की हद हो गई है और यदि कम या न के बराबर है तो इसका अर्थ है कि हद तक कोई जाति अनजानी उपेक्षा व सोची-समझी अनदेखी का शिकार हुई है। कुछ दिन पहले आम आदमी पार्टी के सांसद की ओर से सूची जारी की गई, जिसमें उ.प्र. के सत्तर जिलों के डीएम, एसएसपी-एसपी में से 45 के आसपास एक ही जाति के होने का उल्लेख है। वह भी तब जब भाजपा सरकार के मुख्यमंत्री नाथपंथी साधु-संन्यासी हैं। साधुओं के लिए कहा गया है कि 'जात न पूछो साधु की, पूछ लीजिए ज्ञान; मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान।' आखिर क्यों किसी को अपनी ही जाति में अधिक प्रतिभा और भरोसा दिखता है? फिर बात किसी की नहीं, नेतृत्व करने वाले तबकों की है। पूरे देश की तस्वीर भी इससे मिलती-जुलती है।

केंद्र में भी भाजपा की सरकार है, जिसके बारे में परंपरागत धारणा है कि वह ब्राह्मण-बनिया समुदाय के लिए सुविधाजनक, आश्वासक पार्टी है, बिहार में कभी इसे भूमिहारों की पार्टी के तौर पर देखा जाता था, लेकिन विदित तथ्य है कि भाजपा की चाहे देश की सरकार हो या प्रदेश की, कमोबेश सबके सहयोग की वजह से बड़े बहुमत से बनी है। इसलिए सर्वप्रथम यह जानना जरूरी है कि मंत्रियों, सचिवों, सरकारी विभागों के प्रशासनिक प्रमुख, संस्थाओं के मुखिया, विश्वविद्यालयों के कुलपति, अकादमियों-निकायों के अध्यक्ष, महानिदेशक, निदेशक में कितने किस जाति के हैं। विश्वविद्यालयों की संख्या पौने आठ सौ से ऊपर है। 45 केंद्रीय विश्वविद्यालयों में लगभग 70 प्रतिशत के कुलपति संपूर्ण सवर्ण में से भी नहीं, बल्कि केवल एक जाति के हैं, जाति का नाम समझना मुश्किल नहीं है। इसी प्रकार लगभग साठ प्रमुख केंद्रीय निकायों में से 45 के चेयरमैन या निदेशक उसी एक ही जाति के हैं। विभिन्न विभागों के प्रशासनिक प्रमुख भी उसी जाति के ज्यादा हैं। यह सब अनायास नहीं है, तभी नीतीश कुमार जैसे नेता आबादी के हिसाब से नौकरियों को बाँट देने की वकालत बिहार चुनाव प्रचार के दरम्यान करने लगे हैं, जो जातीय खाँचे को पक्का करने का उपक्रम है। दबी जुबान से अन्य लोग भी इस तरह का मानस रखते है, पर बिना आरक्षण के भी क्या यह लोकतांत्रिक शिष्टाचार नहीं बनता कि एक न्यून मात्रा में ही सही, सभी वर्गों को प्रतिनिधित्व दिया जाए? सवर्णों के नाम पर, पिछड़ों के नाम पर और दलितों-मुस्लिमों के नाम पर कुछ ही लोग फायदा उठाए और अन्य लोग झूठे वर्गीय हितों के लिए फसाद करें। यह राजनीतिक विवेक, मर्यादा और लोकतांत्रिक अनिवार्यता है कि सबका यथोचित समायोजन किया जाए।

जब उच्च स्तर पर जाति का प्रभुत्व स्थापित होता है, तो निचले स्तर पर ऐसी कुप्रवृत्ति के प्रवाह का स्वाभाविक रूप से सशक्तीकरण होता है। जो लोग इसमें रुचि रखते हैं, उन्हें इस पर गौर करना चाहिए और सामाजिक हितों के प्रति चौकस रहना चाहिए, नहीं तो बदनाम पूरा वर्ग-वर्ण होगा और उसकी आड़ में सीमित संख्या के लोग सारी मलाई खाते रहेंगे और बाकी लोग उनके लिए लड़ेंगे, जिन्हें वे फूटी आँख नहीं सुहाते। यह अलग ढंग के अनुकूलन की स्थिति है, जिसे नया रूपाकार दिया जा रहा है। आजादी के सत्तर साल बाद क्या अभी भी खास जाति के लोग ही योग्य हैं? वास्तविकता यह है कि कमोबेश सभी वर्गों के लोग योग्य और प्रतिभावान हैं। लेकिन वर्तमान परिदृश्य में संदेश मिलता है कि सारी काबिलियत का ठेका एक-दो जातियों को दे दिया गया है। संभवतः इसी कारण जातियों की नहीं, जाति की वापसी की बात सोची और कही जा रही है। यही नहीं, 75 साल से अधिक उम्र के सेवानिवृत्त लोगों की कार्यक्षमता पर अधिक भरोसा तब जताया जा रहा है, जब नवजवानों और प्रौढ़ों की प्रतिभा का उपयोग नहीं हो पा रहा हैं, आखिर नियुक्त उम्रदराजों में कौन-ऐसी प्रतिभा दिखी है? 78 की उम्र में बायडेन का लोकतांत्रिक ढंग से निर्वाचित होकर अमरिकी राष्ट्रपति पद पर पहुँचना अलग मिसाल है। यह आँखें खोलने वाली बानगी है।